

## A trinity on free speech



If one were forced to choose amongst fundamental rights, an overwhelming majority would go for the free speech guarantee in 19(1)(a) along with the right to life under article 21 in the Constitution. The former is operationally even more relevant in our daily lives than the latter. The Supreme Court has consistently expanded the boundaries and contours of free speech in free India. It is therefore apposite that a recent trinity of apex court judgements on that subject be celebrated for what they did for free speech, even while upholding its boundaries and limitations in two of the three cases and not even mentioning it in the third! That all three were authored by the same Judge (who happens to be next in line for CJI) may well be a coincidence, but they represent the strong,

continuing and collective commitment by the Supreme Court, at the institutional level, to bat strongly for free speech in its diverse dimensions.

The first, the so-called Gandhi poem case (*Devidas Ramchandra vs Maharashtra*, 14/5/2015) refused to quash IPC pornography charges against the accused who had written allegedly obscene poetry against an iconic historical figure, Gandhi. It rightly rejected the argument that free speech be given absolute protection when used creatively in poetry on Gandhi. The apex court also rightly leant heavily in favour of poetic licence, and applied the community's contemporary notions to judge obscenity. But, equally rightly, it sent the author back to argue all points in the trial, while rejecting his petition to quash the prosecution. However, the judgement appears to have missed an opportunity to fully explore all facets of the right to offend as a part of free speech. The second, the criminal defamation case (*Subramanian Swamy vs UOI*, 13/5/16), upheld the IPC provision allowing criminal defamation as a reasonable restriction on free speech. Free speech is protected no less when the court stands up for limiting its boundaries to where the width or swing of your arm hits your neighbour's nose. Holding that the criminal defamation provisions of the IPC do not become unconstitutional merely by passage of time as antiquated British-era pre-Constitutional provisions also strike the right balance between free speech and reasonable restrictions on it.

The law of defamation is a delicate marriage of an odd couple. Free speech and the right to reputation (a facet of article 21) have learnt to coexist. Marital disputes are inevitable but reciprocal restraint and respect have meant that divorce is rarely, if ever, imminent. The marital balance was struck by the framers themselves when Article 19(2) provided that nothing in 19(1) (a) shall "affect the operation of any existing law" to impose reasonable restrictions, including defamation. Defamation does not partake only of individual interest. It protects reputation which is the person's "estimation in the eyes of the general public". It is necessary for social stability. It is what one lives for, swears by, works his skin off for, fights for and dies for. "Reputation of one cannot be allowed to be crucified at the altar of the other's right of free speech" is what the Court rightly emphasised. The third, the eBay pornography case (*Digumarti vs NCT*, 14/12/16) held inapplicable and non-invokable against an accused, a platform provider intermediary (eBay), those provisions of the IPC which deal generally with pornography through any medium, on the ground that alleged pornography through the internet medium must be dealt exclusively under the IT Act. And that the latter must be held to impliedly override the general IPC provisions. There would be adverse effects on freedom of the internet (and hence freedom of speech) if platform providers, who are exempt under section 79 of IT Act (so long as they take prompt steps to remove offending material upon notification), would still be prosecutable under general IPC. That's even though Section 81 of the IT Act overrides other general enactments and punishment for all "electronic violations" is provided in section 67.

This trinity of sections in the IT Act would be rendered negatory if prosecutions could still continue under IPC despite discharge under the IT Act. The irony is that the judgement, rightly tailored around the provisions of the IPC and IT Act, did not need to mention free speech or 19(1)(a) even once. But its indirect effect on that is significant! Most stakeholders, and especially the press, should be happy at this improved equilibrium in the equation between free speech and its boundaries through this trinity of apex court pronouncements.

*(The writer is former Additional Solicitor General of India)*

## बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 13-01-17

### पूर्व सैन्य अधिकारियों की महारत से मिलेगी ताकत

*पूर्व सैन्य अधिकारियों को सुरक्षा प्रतिष्ठानों से जुड़े पदों पर नियुक्त कर उनकी विशेषज्ञता का लाभ उठाना बेहतर होगा। इस बारे में विस्तार से बता रहे हैं प्रेमवीर दास*

सेना में दो वरिष्ठ अधिकारियों के दावे को दरकिनार करते हुए सरकार द्वारा नए सेना प्रमुख की नियुक्ति को लेकर हाल में काफी चर्चा हुई है। मीडिया, विपक्षी दल और यहां तक कि सेवानिवृत्त जनरल इस पर अपनी राय जाहिर करने से नहीं हिचके, जो फैसला पूरी तरह मौजूदा सरकार के विवेक पर निर्भर है। जनरल विपिन रावत अब सेना प्रमुख हैं और अन्य दो वरिष्ठ अधिकारियों ने अपनी इच्छा से उनके नेतृत्व में अपने शेष कार्यकाल को पूरा करने का फैसला किया है। उनके नजरिये को लेकर उन्हें दाद दी जा सकती है, जबकि अतीत में यही होता आया था कि जिन अधिकारियों की अनदेखी होती थी, वे इस्तीफा दे दिया करते थे, जिसकी अपनी तार्किक अहमियत है। अब हालात सामान्य हो रहे हैं, लिहाजा कुछ व्यापक प्रश्नों पर नजर डालने की जरूरत है।

पहला तो यही कि ऐसे उच्च पदों पर चुने जाने के लिए उसके योग्य बेहद काबिल और सक्षम चार से पांच नामों का एक समूह निश्चित रूप से होना चाहिए। दूसरा यही कि चूंकि वे सभी आवश्यक रूप से बेहतर हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि सबसे वरिष्ठों को स्वतः रूप से चुन लिया जाए, वहां चयन के लिए समग्र अवधारणा पर गौर करने की बात आती है। ऐसे में कुछ मानदंडों का पैमाना स्थापित करना होगा और इसका निर्णय उन्हें लेना चाहिए, जो देश का संचालन कर रहे हों। मिसाल के तौर पर पाकिस्तान या चीन को जवाब देना सेना की पहली और बुनियादी प्राथमिकता है या आज के दौर में अलगाववाद से निपटना काफी अहम हो गया है, जो किसी फैसले से जुड़ा मसला है, न कि किसी अपरिवर्तित सिद्धांत से आबद्ध। बहरहाल किसी भी सूरत में किसी का दूसरे से विशिष्ट होना जरूरी नहीं। इस प्रकार एक निर्णय किया गया है और इस बात की कोई वजह नहीं कि नए सेना प्रमुख की क्षमता या योग्यता पर संदेह किया जाए जैसा कि उनके कुछ पूर्ववर्तियों ने किया है।

यह हमें उच्चतम स्तर पर राष्ट्रीय हितों से जुड़े फैसलों में सेना की भूमिका जैसे व्यापक प्रश्न की ओर ले आता है। यहां पर स्थिति बहुत दिलचस्प है। अधिनायकवादी या सैन्य शासन वाले राष्ट्रों में जैसे कि पूर्ववर्ती सोवियत संघ या चीन में सैन्य या वर्दीधारी लोग उच्च पदों पर आसीन रहे हैं। मिसाल के तौर पर मार्शल जुको, यूस्तिनोव और चैन यी जो इन देशों में रक्षा मंत्रालय संभाल चुके हैं। इसमें दूसरी श्रेणी वाले देशों की बात करें तो ज्यादा दूर नहीं अपने पड़ोस पर ही नजर डाल ली जाए, जहां न केवल सेना के मुखिया राष्ट्र प्रमुख बने बल्कि सेना के तमाम अन्य अधिकारियों ने भी विदेश मंत्री या उसके जैसे और कई महकमे संभाले। समूची सरकार के अधिनायकवादी स्वरूप को देखते हुए यह बहुत स्वाभाविक भी है।

फिर भी अमेरिका जैसे लोकतांत्रिक देशों में सैन्य पृष्ठभूमि वाले लोगों को उतनी ही अहमियत दी जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिकी सेना की कमान संभालने वाले जनरल जॉर्ज मार्शल बाद में विदेश मंत्री बने और उनके बाद जनरल एलेक्जेंडर हेग और कॉलिन पावेल ने भी यह जिम्मेदारी संभाली। उनमें से तमाम ने सीआईए और एनआईए जैसी खुफिया एजेंसियों की बागडोर भी संभाली, जिनके काम का मिजाज सेना से अलग होता है।

कुछ ही हफ्तों में कमान संभालने वाले डॉनल्ड ट्रम्प प्रशासन में भी रक्षा मंत्री और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार जैसे दो महत्वपूर्ण पदों का दायित्व पूर्व जनरलों को ही दिया जा रहा है। संक्षेप में कहें तो यही नजर आता है कि लोकतांत्रिक सरकारें भी सेना में रहे उच्च अधिकारियों को अहम राजनीतिक पदों पर नियुक्त कर रही हैं। इनमें सबसे सिरमौर जनरल आइजनहॉवर माने जाते हैं, जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र देशों के अभियान की कमान संभाली थी और बाद में वह अमेरिका के राष्ट्रपति चुने गए। दिलचस्प रूप से संसदीय लोकतंत्रों की कहानी एकदम अलग है। ब्रिटेन में एलनब्रुक, मोंटगोमरी और माउंटबेटन जैसे नामचीन एवं प्रभावशाली सैन्य अधिकारियों का स्वर्णिम अतीत रहा है लेकिन ऐसे दुर्लभ वाक्ये ही देखने को मिलते हैं कि उन्हें उच्च राजनीतिक पदों पर आसीन किया गया हो। तमाम अन्य देशों के लिए भी कुछ अपवादों के साथ यही बात सच नजर आती है। हमने ब्रिटिश परंपराओं को ही आत्मसात किया है और इसमें पूर्व सैन्य अधिकारियों की विशेषज्ञता का लाभ न उठाने की परिपाटी भी अपना ली। हालांकि भारत में भी पूर्व सैन्य अधिकारियों ने राजनीति को अपनाया और वरिष्ठ मंत्री बने, जिसमें पूर्व विदेश मंत्री जसवंत सिंह विदेश मंत्रालय संभाल चुके हैं लेकिन ऐसा काफी समय बाद और अपने व्यक्तित्व में बदलाव के बाद ही संभव हो सका।

यहां तक कि मौजूदा दौर में भी दो राज्यमंत्री पूर्व सैनिक हैं। इनमें से एक तो सेना प्रमुख भी रह चुके हैं। मगर वे राजनीतिक प्रक्रिया के जरिये वहां पहुंचे हैं। एक अन्य पूर्व सेना प्रमुख को राज्यसभा सीट दी गई लेकिन इससे ज्यादा उनका उपयोग नहीं हुआ। आजादी के बाद के सात दशकों में पूर्व वरिष्ठ सैनिकों को हमने राज्यपाल और राजदूत जैसे पदों पर बिठाया। यहां तक कि राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार और खुफिया एजेंसियों के प्रमुखों जैसे मनोनयन वाले पदों पर भी, जिनमें निर्विवाद रूप से उनकी विशेषज्ञता दूसरे से बेहतर हो सकती है लेकिन वहां भी उनके नामों पर विचार नहीं होता। यहां प्रवीणता विमर्श क्या हमारे हितों के लिहाज से उपयुक्त है।

सैन्य मसलों पर सरकार को पेशेवर सलाह एक सुव्यस्थित प्रक्रिया के जरिये ही दी जाती है। अगर मौजूदा तंत्र किसी लिहाज से पूरी तरह सक्षम नहीं तो यह अलग मामला है लेकिन यहां अहम मुद्दा यही है कि जो लोग चार दशकों तक वर्दी में सेवा दे चुके हों, उनके ज्ञान और क्षमताओं का सबसे बेहतर उपयोग कैसे हो सके। उनकी क्षमताओं को व्यर्थ गंवाने के बजाय उन्हें कैसे बेहतर तरीके से भुनाया जाए, इस पर गंभीर रूप से विचार करने की दरकार है। सीएजी, सीवीसी और सीईसी जैसे पदों को छोड़ भी दिया जाए तो अगर दशक भर पहले सेवानिवृत्त हुए अफसरशाह को दिल्ली का उप राज्यपाल बनाया जा सकता है या पूर्व गृह सचिव को भारत में क्रिकेट बोर्ड की कमान संभालने के लिए उपयुक्त माना जा सकता है तो सैन्य खुफिया विभाग की कमान संभालने वाले को रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (राॅ) का मुखिया क्यों नहीं बनाया जा सकता? इसी तरह अगर किसी व्यक्ति ने राष्ट्रीय सुरक्षा के नजरिये को लेकर महारत हासिल की हो तो उसे राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार या राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड का अध्यक्ष क्यों नहीं बनाया जाता?

हमें यही प्रतीत होता है कि आजादी के सात दशकों बाद भी हमारा राजनीतिक प्रतिष्ठांन सैन्य शख्सियतों के साथ असहज महसूस करता है। यह दोनों पक्षों की कमजोरी बयां करता है। शासन के प्रत्येक स्तर पर अहम सुधार हो रहे हैं और उच्च सुरक्षा ढांचा निश्चित रूप से उनमें से एक है। अगर लंबे समय से 'यथास्थितिवादी' आर्थिक नीतियों को 'सर्जिकल स्ट्राइक' की जरूरत थी तो उसी तरह की गैर परंपरागत रणनीति की अन्यत्र भी आवश्यकता है। राजनीतिक-सैन्य संगम भी उनमें से एक है।

Date: 13-01-17

## वैश्विक मानकों से दूर हैं भारत की बहुराष्ट्रीय कंपनियां

देश का निजी कारोबारी जगत जिसे हम इंडिया इंक के नाम से जानते हैं, वह आखिर किस दिशा में बढ़ रहा है? आमतौर पर जारी किए जाने वाले तिमाही नतीजों के आंकड़ों के अलावा आखिर इनके बड़े लक्ष्य क्या हैं? जहां तक संगठनात्मक आकार और ढांचे में तेजी से बदलाव और उसे किरफायती बनाने की बात है तो वर्ष 2000 के दशक के आरंभ में आर्थिक सुधारों ने उसे अंजाम दे दिया। तब से अब तक भारतीय उद्योग जगत ने शायद ही कोई बदलावपरक कदम उठाया हो।

यह सही है कि वे निष्क्रिय भी नहीं रहे हैं। छोटे और चुस्त-दुरुस्त संस्थानों ने उदारीकरण के बाद आए अवसरों को भरपूर भुनाया है। ये नए अवसर सूचना प्रौद्योगिकी, ई-कॉमर्स और बुनियादी ढांचागत क्षेत्र में पनपे। इनके लिए नए और लचीले पूंजी स्रोत सामने आए। बड़े कारोबारी घरानों ने विकास के लिए बाहर का रुख किया। इनमें टाटा और आदित्य बिड़ला समूह प्रमुख हैं। वहीं भारत फोर्ज, अपोलो टायर्स, एस्सार और गोदरेज भी कुछ प्रमुख नाम हैं। भारतीय बहुराष्ट्रीय कंपनियों की अवधारणा, उदारीकरण के बाद की एक अहम अवधारणा है। वैश्विक अधिग्रहण की कोशिशों के मिलेजुले नतीजे सामने आए हैं। इसके पीछे कई वजह हैं। इनमें वर्ष 2008 में आई वित्तीय मंदी शामिल है। लेकिन भारतीय कारोबारी जगत इसकी मदद से अपनी बढ़िया ब्रांड छवि विकसित नहीं कर सका। यह उदारीकरण के बाद के भारतीय कारोबारी जगत के विरोधाभासों में से एक है। भारत दुनिया की सातवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था वाला देश है। ब्रिक्स देशों में उसका स्थान दूसरा है लेकिन इसके बावजूद चीन के अलीबाबा और श्याओमी या ब्राजील के एंब्रायोर या पेट्रोब्रास की तरह भारत के पास कोई ऐसा ब्रांड नहीं है जिसकी वैश्विक छवि हो। ऐसे में आप टाटा का नाम ले सकते हैं। लेकिन उसका नाम किसी एक संस्थान के बजाय संगठनात्मक ढांचे वाले संस्थान के रूप में अधिक है। टीसीएस, कोरस और जगुआर लैंड रोवर आदि इसके उदाहरण हैं। दोपहिया बाजार में बजाज ने नाइजीरिया तथा कुछ अन्य अफ्रीकी देशों में अच्छी खासी छवि बना रखी है। टाटा ट्रक्स, गोदरेज व्यक्तिगत इस्तेमाल के उत्पाद, भारती एयरटेल दूरसंचार सेवा, महिंद्रा एंड महिंद्रा और भारत फोर्ज आदि कुछ ऐसे भारतीय ब्रांड हैं जिनकी यूरोप और दक्षिणी अमेरिका के विश्व बाजार में प्रतिष्ठा है।

सामरिक नीतिकार आपको बतायेंगे कि वैश्विक बाजार में पहुंच बेमानी है क्योंकि भारत खुद बहुत बड़ा बाजार है और घरेलू उत्पाद यहीं खप सकते हैं। आने वाले समय में भी भारत बड़ा विश्व बाजार बना रहेगा। सच तो यह है कि वैश्विक ब्रांड हमें वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धा करना सिखाते हैं। टेलीविजन और मनोरंजन जगत के इलेक्ट्रॉनिक्स बाजार हमें इस बारे में बताते हैं। एक बार ओनिडा, वीडियोकॉन और बीपीएल जैसे भारतीय ब्रांड इस बाजार पर छाए हुए थे। सन 1990 के दशक में उन्हें पैनासोनिक, एलजी, सोनी और फिलिप्स का समकक्ष माना जाता था। यात्री कारों में हिंदुस्तान मोटर्स और प्रीमियर पद्मिनी का बोलबाला था लेकिन मारुति सुजुकी के आगमन के बाद वे बाजार से बाहर हो गईं। दूसरे स्थान पर कोरिया की हुंडई आ गई। टाटा मोटर्स तीसरे स्थान पर है लेकिन उसने कभी ऐसी यात्री कार नहीं बनाई जिसे बेहतरीन करार दिया जा सके। उसने विकसित बाजारों के लायक कोई कार भी नहीं तैयार की। लक्जरी कारों की बात करें तो भारतीय ब्रांड नदारद नजर आते हैं। समस्या यह भी है कि भारतीय ब्रांड लागत और मूल्य पर प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसके परिणामस्वरूप दो बातें होती हैं। पहला भारत कम लागत वाला यानी सस्ता उत्पादक बना रहता है लेकिन इस क्षेत्र में भी वह चीन, वियतनाम और बांग्लादेश से पीछे है। आज मदुरा, बजाज इलेक्ट्रिकल और हैवेल्ल्स जैसे घरेलू ब्रांड भी अपने कई उत्पाद उपरोक्त देशों से ही मंगाते हैं। विडंबना देखिए कि महाराष्ट्र की कंपनी वीडियोकॉन ने कुछ साल पहले कई वैश्विक ब्रांड के लिए अनुबंधित निर्माता बनने की ठानी। लेकिन फॉक्सकॉन जैसी विनिर्माण दिग्गज कंपनी से तुलना की जाए तो उसकी हालत बहुत बुरी नजर आती है।



दूसरी बात, कीमत और कारोबार की बात करें तो पैनासोनिक से लेकर मर्सिडीज जैसे ब्रांड हमें यही सिखाते हैं कि उपभोक्ताओं के सामने गुणवत्ता ही असल मूल्य है। उदाहरण के लिए कीमत पर अत्यधिक ध्यान देना ही नैनो के लिए समस्या बन गया। नैनो की विफलता से यह मिथक भी टूटा कि भारतीय ग्राहक कीमत को लेकर अत्यधिक संवेदनशील हैं। फिर भी कीमत एक वजह है और इसी के चलते रिलायंस जियो ने लंबे समय तक मुफ्त 4जी सेवाओं की घोषणा की। ऐसा लगता है कि भारतीय प्रतिस्पर्धा आयोग भी इस मामले पर तबज्जो नहीं दे सका है।

अपवाद के तौर पर इसका एकमात्र सबक नागरिक उड्डयन क्षेत्र से मिलता है जहां सरकारी क्षेत्र की कंपनी एयर इंडिया को देसी स्वामित्व वाली निजी विमानन कंपनियों ने काफी पीछे छोड़ दिया है। इन कंपनियों ने सस्ती लेकिन स्तरीय विमानन सेवा के रूप में वैश्विक मानक स्थापित किए हैं। एक हद तक उन्होंने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी टक्कर देनी शुरू कर दी है। यह सच है कि घरेलू विमानन कंपनियां कई सालों तक वैश्विक प्रतिस्पर्धा से बची रहीं लेकिन यह दलील तो हर उपभोक्ता बाजार के बारे में दी जा सकती है। एक ऐसे कारोबारी माहौल में जहां उपभोक्ताओं ने रायसीना हिल्स पर कॉर्पोरेट लॉबीइंग की ताकत को पुनस्थापित कर दिया है वहां भारतीय बहुराष्ट्रीय कंपनियों को वैश्विक मानकों के लिए प्रतिस्पर्धा शुरू करनी चाहिए।



# दैनिक भास्कर

Date: 13-01-17

## बजट में छोटे उद्योगों पर ध्यान देकर जॉब बढ़ाएं



देश में रोजगार बढ़ाने के लिए मैन्यूफैक्चरिंग और खासतौर पर अतिलघु, लघु और मध्यम उद्योग (एमएसएमई) क्षेत्र महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आगामी बजट में इस क्षेत्र के अनुकूल कदम उठाना उचित होगा। जीडीपी में योगदान, औद्योगिक उत्पादन और नौकरियां निर्मित करने की दृष्टि से इस क्षेत्र ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमारे जीडीपी में इसका योगदान मुश्किल से 38 फीसदी है, जबकि जर्मनी में यह 52 फीसदी, चीन में 58 फीसदी और दक्षिण अफ्रीका में 42 फीसदी है। जाहिर है भारत जैसी विशाल अर्थव्यवस्था में जीडीपी में योगदान व नौकरियां निर्मित करने की इससे अधिक नहीं तो इतनी तो गुंजाइश है ही। स्पर्द्धा

करने लायक वित्तीय दरों, व टेक्नोलॉजी के वांछित स्तर के अभाव, श्रमिकों संबंधी मुद्दे, सिस्टम व सर्टिफिकेशन को अपनाने में देरी से क्षेत्र अपनी पूरी क्षमता के दोहन में नाकाम रहा है।

इन विपरीत स्थितियों के बावजूद एमएसएमई सेक्टर ने उत्पादन, सेवा, मार्केटिंग और वितरण हर क्षेत्र में इनोवेटिव मॉडल विकसित करके चुनौतियों का सामना करने की क्षमता दिखाई है। बजट में निवेश पर अलाउंस देकर इस क्षमता में इजाफा करना चाहिए। गौरतलब है कि केंद्र सरकार ने भी इस क्षेत्र की ताकत को पहचाना है और राज्य सरकारों के साथ सलाह-मशविरा कर उसने इस क्षेत्र में बिज़नेस करने को आसान बनाने की दिशा में कई कदम उठाए हैं। उदाहरण के लिए एमएसएमई का पंजीयन बहुत जटिल और समयसाध्य कवायद थी लेकिन, अब स्व-

प्रमाणीकरण पर आधारित ऑनलाइन उद्योग आधार रजिस्ट्रेशन से यह प्रक्रिया काफी हद तक सरल हो गई है। इसे कहीं से भी तीन मिनट के भीतर किया जा सकता है। फिर एमएसएमई मंत्रालय के विकास आयुक्त के दफ्तर में इंडियन एंटरप्राइज डेवलपमेंट सर्विसेस (आईईडीएस) का गठन दूरगामी कदम है। बजट में बिज़नेस आसान बनाने के कुछ और कदमों की अपेक्षा रहेगी। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने उद्योगों के विकास के लिए कई कदम उठाए हैं। इनमें 'मेक इन इंडिया' सबसे महत्वाकांक्षी है। इसका लक्ष्य मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर के आधार को व्यापक बनाना है। सरकार ने बिज़नेस करने को आसान बनाने की रैंकिंग पर ध्यान केंद्रित किया है, जिससे कई अंतरराष्ट्रीय और बड़ी कंपनियों के निवेश के लिए राह खुली है।

वैश्विक कंपनियों द्वारा भारत में उत्पादन का आधार स्थापित करने पर अब एमएसएमई के लिए वैश्विक सप्लाय शृंखला का अंग बनने का मौका है। ऑटोमोबाइल, प्रतिरक्षा, एरोस्पेस, बायोटेक्नोलॉजी, आईटी व इलेक्ट्रॉनिक्स, एविएशन और ई-कॉमर्स आदि क्षेत्र में ये मौके मौजूद हैं। पिछले कुछ वर्षों में नए ब्रैंड्स के प्रवेश से इन उद्योगों को नई टेक्नोलॉजी, नए उत्पाद लाने, गुणवत्ता सुधारने, कुशलता लाने, योग्य बनाने के साथ लागत कम करने और स्थानीय कौशल के इस्तेमाल से नई टेक्नोलॉजी अपनाने की योग्यता को प्रदर्शित करने का मौका दिया है। बदले में इसने क्षमता विस्तार, विकास और सहायक उद्योगों की क्षमता को कारगर तरीके से बढ़ाने में उत्प्रेरक का काम किया है। बिज़नेस करने की आसानी से इलेक्ट्रॉनिक्स, रसायन, चमड़ा, कपड़ा, कृषि आधारित खाद्य प्रसंस्करण, दवाई उद्योग व मेडिकल उपकरणों के क्षेत्र में उत्साह पैदा हुआ है। सेवा क्षेत्र में भी एमएसएमई की अत्यधिक संभावनाएं हैं इसमें इन उद्योगों ने संगठित खेरीची व थोक बिक्री, व्यापार, ई-कॉमर्स, परिवहन व पर्यटन, साइबर सुरक्षा, संचार, स्वास्थ्य रक्षा, मीडिया व मनोरंजन क्षेत्र में इनोवेटिव सर्विस डिलीवरी मॉडल निर्मित कर अपनी ताकत दिखाई है। सेवा क्षेत्र ने बाध्यताओं व तीव्र वैश्विक स्पर्धा के बावजूद उच्च वृद्धि कायम रखी। आने वाले वर्षों में इस क्षेत्र के उद्योग और बढ़ेंगे और भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे।

समय की मांग तो यही है कि एमएसएमई स्पर्धात्मक वातावरण में अपनी धार तेज करने के लिए नए उभरते टेक्नोलॉजिकल औजारों को अपनाएं। यह बहुत निर्णायक है, क्योंकि सेंसर व इंटरनेट ऑफ थिंग्स, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, मशीन लर्निंग रोबोटिक्स, सोलार पीवी एनर्जी स्टोरेज, श्री-डी विजुअलाइजेशन, मशीन इंटरनेट एंड क्लाउड, बिग डेटा, मानवरहित यान, नैनो सैटेलाइट, ई-मनी एंड फाइनेंस आदि ने ज्यादातर परम्परागत उद्योगों में बिज़नेस को बदलकर रख दिया है। बजट में नवीनतम टेक्नोलॉजी के आयात पर रियायतों की अपेक्षा होगी। इसी के साथ एमएसएमई क्षेत्र को यह समझना होगा कि घरेलू और अंतरराष्ट्रीय बाजार में उत्पादन के स्तर के बदलते परिदृश्य को भी ध्यान में रखें। कई बार एमएसएमई के लिए कानूनी प्रक्रियाओं का पालन करना बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाता है लेकिन, यही सोर्सिंग का तय करती है। इसी वजह से एमएसएमई को घरेलू और वैश्विक वैल्यू चैन में सप्लाय की प्राथमिक पसंद बनने के लिए वांछित प्रक्रियाओं और मानकों को अपनाना होगा। इस संबंध में किसी प्रकार के ट्रेनिंग का बजटीय प्रावधान होना चाहिए। सारांश यह है कि आर्थिक वृद्धि में एमएसएमई सेक्टर के योगदान को पहचान तो लिया गया है। अब 'मेक इन इंडिया' जैसे कार्यक्रमों के फोकस में इन्हें रखना होगा, क्योंकि बड़े उद्योगों की तुलना में ये उद्योग ही अधिक तेजी से नौकरियां पैदा कर पाएंगे। बड़े उद्योगों में टेक्नोलॉजी में सुधार उन्हें मानव श्रम बल कम करने को मजबूर कर देता है। इस सेक्टर को गुणवत्तापूर्ण प्रतिभाएं मुहैया कराने, समस्या समाधान, इनोवेटिव पद्धतियों और प्रबंधन के साथ पूंजी का अभाव भी दूर करना चाहिए। इसके साथ नीतिगत माहौल ऐसा हो कि इन उद्योगों में प्रक्रियाओं का सरलीकरण हो ताकि इस सेक्टर को मदद मिल सके। बजट में ऐसे कदम उठाए जाएं कि उन उद्योगों की जमीन तक पहुंच हो, उन्हें समय पर निर्माण की अनुमति मिले, पर्यावरण संबंधी मंजूरीयां तेजी से मिले। पानी, बिजली, कुशल श्रमिक, कर्ज व वित्त, बाजार तक पहुंच, कच्चे माल की उपलब्धता यह सब हमें स्पर्धात्मक कीमतों पर उपलब्ध कराना होगा।

**संजय भाटिया, अध्यक्ष, अतिलघु, छोटे और मध्यम उद्यमों का फिक्की महासंघ (ये लेखक के अपने विचार हैं)**

**Date: 12-01-17**

## What we need to guard

***Fundamental rights are no gifts of the state, the Constitution only confirms their existence.***



Our freedom fighters and members of the Constituent Assembly who drafted free India's Constitution attached great importance to fundamental rights. They did not subscribe to the fallacy that fundamental rights are a gift from the state to its citizens. They rightly believed that individuals possess basic human rights independently of any Constitution by reason of the fact that they are members of the human family. A Constitution does not "confer" fundamental rights. It confirms their existence and accords them protection. That is the rationale of fundamental rights. A controversial issue is whether a court can deduce additional fundamental rights which are not expressly set out in the

Constitution. The US Supreme Court has deduced rights of privacy and parenthood on the reasoning that the specific guarantees in the Bill of Rights "have penumbras formed by emanations from those guarantees that help give them life and substance". A similar approach has been adopted by Irish courts in the Republic of Ireland.

Our Supreme Court has also deduced fundamental rights which are not specifically mentioned in the Chapter on Fundamental Rights on the principle that certain unarticulated rights are implicit in the enumerated guarantees. For example, freedom of the press has been deduced on the ground that it is implicit in the guarantee of freedom of speech and expression. The right to travel abroad and return to one's country has been spelt out from the expression "personal liberty" in Article 21 of the Constitution. The Court has also ruled that right to education until the age of 14 is a fundamental right emanating from the all pervasive Article 21. No fundamental right is or can be absolute. Every Constitution provides for restriction of fundamental rights in general public interest.

However, the restriction imposed should not be excessive or disproportionate. In determining this issue, judicial subjectivity is likely to play a part. But that is no ground for declining judicial review. The Supreme Court, in the celebrated *State of Madras v. V.G. Rao* decided in March 1952, acknowledged that "it is inevitable that the social philosophy and the scale of values of the judges participating in the decision would play an important part", but emphasised that if the impugned legislation violated a fundamental right it would have to be struck down because as regards "fundamental rights", the Court has been assigned the role of a sentinel on the "qui vive".

A well settled principle of constitutional adjudication is to construe a statute in a manner that will obviate constitutional challenge. Courts in the US have acted on this principle. Our Supreme Court has also adopted the same principle and, in order to sustain the constitutionality of a statute, adopted the judicial technique of reading down or reading into the impugned provision certain words. Utmost judicial vigilance is necessary with regard to restraints on the fundamental right of freedom of expression and personal liberty, which are the favourite targets of attack by authoritarian regimes because their suppression enables the regime to neutralise the dissenter, jettison accountability and ensure its continuance. Serious violations of fundamental rights occur during emergencies. The usual facile excuse offered is that fundamental rights are required to be suspended

temporarily in order that the nation may survive. Actual experience establishes that those to whom supreme authority has been conferred are reluctant to give it up. Temporary dictatorship often becomes permanent tyranny because when the safeguards of the Constitution are surrendered to the rulers the means of getting them back also get surrendered.

A mere declaration of invalidity of a detention order or seizure of the press or revocation of a licence to carry on a business would not provide a meaningful remedy to a person whose fundamental rights have been violated without issuing appropriate directions for compensation for breach of constitutional safeguard. A notable achievement in the protection and promotion of fundamental rights has been by development of Public Interest Litigation (PIL). Thanks to PIL, enjoyment of fundamental rights has become a living reality, to some extent, for at least some illiterate, indigent and exploited segments in our society. Numerous prisoners languishing in jails inordinately awaiting trial have been released; persons treated like “serfs” and held in bondage have secured freedom and have been rehabilitated; conditions of inmates in care homes and in asylums for the insane; and of workers in stone quarries and brick kilns, have been ameliorated. Judicial review in PIL is a delicate exercise and can also cause problems and a cynic may well question its utility. The answer is that it has a salutary effect on administration which knows that it has to conform to the discipline of fundamental rights. Above all, the fundamental rights part in the Constitution is a salutary reminder that the powers of the state are not unlimited and that human personality is priceless. We need these reminders constantly.

***Soli J. Sorabjee*** *The writer is a former attorney general for India*

---

**Date: 12-01-17**

## Should Hear Them

***It's time parliamentary panels open their doors when witnesses testify.***



The governor of the Reserve Bank of India will be testifying before two parliamentary committees in the coming weeks. He will be briefing the committee on finance on the impact of demonetisation and giving evidence to the public accounts committee on the monetary policy of the country. It is not unusual for the RBI governor to appear before a parliamentary panel. In June 2016, Raghuram Rajan had briefed the finance committee on the state of the economy, the role of RBI and the banking sector in the country.

In fact, the RBI has initiated a six-monthly interaction with the finance committee where the governor reports on the activities of the central bank, and the committee offer its views and concerns. Lack of debate on the issue of demonetisation in the winter session of Parliament has fuelled tremendous interest in the governor's testimony. This newspaper has published 10 questions posed to the governor by the public accounts committee (IE, January 9). The public accounts committee of Parliament has been in existence since 1921 and the departmentally related committees (like finance, defence, etc.), as we know them today, were given final shape in the early nineties. Members of Parliament from both houses are part of these committees. They scrutinise legislative proposals initiated by a ministry, its demands for grants, annual reports, and long-term policy documents presented to Parliament. These committees do the heavy lifting of parliamentary oversight of government functioning. To do their work, they are empowered to call witnesses to give evidence and produce documents required by the committee.



These committees have contributed immensely to the policy debate in Parliament. However, their work has always been behind closed doors. They meet in private; their meetings open only to members of the committee, Parliament staff and anyone invited to testify before the committee. The deliberations of the committee are confidential, and evidence tendered before it is usually kept secret and made public only after the committee presents its report. It makes sense to hold the committee's deliberations closed door. It promotes the free exchange of ideas between participating MPs. The absence of cameras live telecasting its proceedings discourages political grandstanding. This is possibly the reason that at the time of framing of general rules governing the proceedings of committees, there were divergent views amongst MPs about the press being allowed to witness the sittings of committees.

However, this logic does not apply for keeping the testimony of individuals before committees' secret. For example, in the US, statements made before committees of Congress are open to the public and are also telecast live. The chairman of the Federal Reserve, Janet Yellen, routinely testifies before committees of the House of Representatives. It is televised and archived for easy viewing. In addition, the prepared statements made by individuals testifying before the committee are uploaded on the website of the committee. In the United Kingdom, the House of Commons publishes a calendar of select committee meetings which are open to the public. This week, the oral evidence of Mark Carney, governor of the Bank of England on last year's financial stability reports was open to the public. Also open were multiple select committee meetings examining the impact of Brexit on the country. There have been a few examples of the opening up of legislative committees in our country. Last year, a committee of the Delhi Vidhan Sabha looking at irregularities in sports administration bodies of cricket and hockey allowed the press to view its proceedings. In 2008, the Goa Vidhan Sabha had also opened up its committee meetings to both the public and press. In the 13th Lok Sabha, given the widespread public interest, the chairman of the joint committee examining the Stock Market Scam briefed the press at the end of each committee meeting.

It might be an opportune time for our parliamentary committees to open their doors when witnesses are testifying before them. It can be done in multiple ways. The easiest will be to permit Lok Sabha and Rajya Sabha television to telecast the testimony of witnesses. Allowing the press to observe the evidence can be used to supplement it. Publication of the transcript of testimony is another low-hanging fruit when it comes to opening the committees. The final step can be allowing the general public to view evidence proceedings of committees. The rules of parliament provide some avenues for opening committee meetings. For example, rule 269 of the rules of procedure of the Lok Sabha gives the chairman of a committee the discretion to allow evidence presented before it to either be treated as confidential or made public. It takes a minimum of three months to finalise the report of a parliamentary committee. The current rules can be amended to enable uploading of the evidence given before the committees before the final report is published. These changes will have to be tempered to assure individuals that they can testify freely before committees. The changes to the working of parliamentary committees are essential steps for securing openness and transparency. They also have the added advantage of strengthening Parliament's accountability.

***Chakshu Roy*** *The writer is head of outreach, PRS legislative research*

---

**Date: 12-01-17**

## **Rain shadow south**

***The failure of the northeast monsoon will impact the economy of southern India. Government must plan ahead.***

On Wednesday, Tamil Nadu declared a drought. The state government also announced that more than 140 farmers took their lives between October and December 2016 because of crop failure. The agrarian crisis in the

state is a fallout of a weather vagary that hasn't received much notice. The northeast monsoon — critical to the southern peninsula, particularly Tamil Nadu — has been a failure, with overall rainfall between October and December 45.2 per cent below normal. This is the worst since the 48.3 per cent deficit recorded in 2011. In October 2016, 22 districts of Karnataka were declared drought hit. As 2016 drew to a close, South India's combined reservoir levels were 22 percentage points less than the average water availability over the past 10 years. The situation has serious implications for crops like paddy and coconut and will impact milk and sugar production, especially in Karnataka.

The poor northeast monsoon, this year, is a double blow for the southern states. Tamil Nadu, Kerala and south interior Karnataka and coastal Karnataka had already reported respective shortfalls of 19 per cent, 34 per cent, 21 per cent and 21 per cent during the southwest monsoon (June-September). The corresponding deficits of 62 per cent, 61 per cent, 70 per cent and 63 per cent reported for the northeast season makes matters worse for these regions. The deficit in the northeast monsoon is likely to have implications for the economy. It may also accentuate inter-state river disputes, especially the sharing of Cauvery waters. While it is too early to predict the exact shortfalls in crop production, sowing figures from South India do not portend well. Tamil Nadu, for example, had targeted 14.5 lakh hectares under rice in 2016-17, according to the agriculture ministry. But barely seven lakh hectares was under the plough by January 5. This is 33 per cent less than the five-year sowing average of 10.68 lakh hectares. The shortfall will also impact livelihoods and have repercussions on the mechanisms to deal with crop failure. So far, less than a third of the drought hit areas in Karnataka have been covered by the Pradhan Mantri Gram Fasal Bima Yojana. The northeast monsoon is considered a fringe player in the agro-climate story. But imperatives of the economy and the needs to secure people's livelihoods require a rethinking on that front.



**Date: 12-01-17**

## एनजीओ पर शिकंजा

सर्वोच्च न्यायालय ने गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) को जवाबदेही के दायरे में लाने के लिए उनके खातों का 31 मार्च तक ऑडिट कराने का निर्देश दिया है। यह जिम्मेदारी ग्रामीण विकास मंत्रालय के अधीन काम करने वाली संस्था कपार्ट (लोक कार्यक्रम और ग्रामीण विकास परिषद) को सौंपी गई है, जो एनजीओ को फंड जारी करती है। यानी एनजीओ को जनता के पैसों का हिसाब देना होगा। देश भर में लगभग 32 लाख एनजीओ हैं, जिनमें से केवल तीन लाख ही बैलेंस शीट फाइल करते हैं। उन पर निगरानी रखने के लिए कोई समुचित विकसित तंत्र भी नहीं है। प्रधान न्यायमूर्ति जे.एस. खेहर, न्यायमूर्ति एन.वी. रमण और न्यायमूर्ति धनंजय चंद्रचूड़ की बेंच ने एक याचिका पर सुनवाई करते हुए गबन करने वाले एनजीओ के खिलाफ फौजदारी मुकदमा चलाने का भी निर्देश दिया। शीर्ष अदालत की इस पहल का स्वागत किया जाना चाहिए। लेकिन जनता के पैसों के साथ धोखाधड़ी करने वाले एनजीओ का यह एक पक्ष है। यानी सिर्फ एनजीओ ही इसके लिए अकेले जिम्मेदार नहीं हैं। इसमें चार तरह के गठजोड़ शामिल हैं, जो मिलजुल कर हेराफेरी और गबन करते हैं। मसलन, केंद्रीय सामाजिक कल्याण बोर्ड, कपार्ट और जिला तथा ब्लाक स्तर पर कार्यरत सरकारी संस्थाएं जिन्हें दाता (डोनर एजेंसी) संस्था कहा जाता है। दूसरे, एनजीओ के कामकाज को मॉनिटर करने वाले, तीसरे ऑडिटर और चौथा एनजीओ। दाता संस्था ही मॉनिटर को नियुक्त करता है, जो कामकाज के निर्धारित मानकों को नजरअंदाज करके फर्जी रिपोर्ट पेश करता है। ऑडिट के मामले में प्रशासनिक खर्चों के हिसाब में अस्पष्टता का फायदा ऑडिटर उठाते हैं। इसमें

यात्रा बिल आदि को भी नत्थी कर दिया जाता है, जिसकी ठीक से जांच नहीं हो पाती। इस तरह जनता के पैसों के साथ धोखाधड़ी और लूट के खेल में दाता संस्थाओं के उच्च अफसरों से लेकर एनजीओ तक शामिल हैं। इसलिये सबसे पहले दाता संस्थाओं के शीर्ष अफसरों को ईमानदार बनाने की जरूरत है ताकि वह अपने जैसे ईमानदार एनजीओ को ही रकम मुहैया कराएं। ऑडिट करने वाली संस्था या व्यक्ति की भी समुचित निगरानी करने की जरूरत है। अगर एनजीओ के कार्यपन्नाली को पारदर्शी और ईमानदार बनाना है तो पूरे तंत्र को सुधारना होगा। माननीय अदालत को भी इन बातों पर गौर करना होगा।

---